

प्रगतिवादी कवि त्रिलोचन शास्त्री और युगीन परिवेश

डॉ० बबलू कुमार
असिस्टेण्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
गर्ग पीजी कॉलेज,
लक्सर, हरिद्वार

हर युग के रचनाकार ने अपनी कला के माध्यम से समाज को एक नई दिशा देने का प्रयास किया है। कवि या लेखक का यह कर्तव्य बनता है कि वह अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त बुराईयों को दूर करने का प्रयास करें और मानवीय मूल्यों की स्थापना करने में समाज का सहयोग करें। हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का आरम्भ 1936 से माना गया है लेकिन आदिकाल में भी ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनका उद्देश्य समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने का रहा है। हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का उद्भव कोई सोची-समझी रणनीति के तहत नहीं हुआ वरन् एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए इसका जन्म हुआ। तत्कालीन समाज में सामाजिक विषमता उत्पन्न हो गयी थी और साम्प्रदायिकता अत्यन्त प्रभावी थी। उच्च व अभिजात्य वर्ग द्वारा गरीब, मजदूर व किसानों का शोषण एवं प्रताड़न विभिन्न तरीकों से किया जा रहा था। नारी देह सुख का साधन मात्र बनकर रह गयी थी। धर्मान्धता हर ओर दिखाई दे रही थी और रूढ़ियों का बोलबाला था। बलि प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह जैसी अनेक समस्याएँ समाज के सामने खड़ी थी जिनका प्रबल विरोध प्रगतिवाद ने बड़े आक्रामक ढंग से किया। अस्पृश्यता का घोर विरोध प्रगतिवाद द्वारा किया गया।

प्रगतिवाद देशवासियों में राष्ट्रानुराग पैदा करने, आर्थिक व सामाजिक विषमता दूर करने, साम्प्रदायिकता को समाप्त करने, गरीबों व किसानों का शोषण बन्द कराने, नारी-उत्पीड़न पर रोक लगाने, मानवीय मूल्यों की विश्व स्तर पर स्थापना करने, धर्मान्धता व रूढ़ियों का विरोध करने तथा अस्पृश्यता का विरोध करने के लिए हिन्दी साहित्य में अवतरित हुआ। इस काल के काव्य में उपर्युक्त सार्थक बिन्दुओं को उत्पन्न करने तथा कमियों को समाप्त करने का कार्य किया गया। हम यहाँ पर प्रगतिवाद के समय के समाज का विवरण इस प्रकार दे रहे हैं—

साहित्यिक परिवेश

आधुनिक हिन्दी काव्य के उद्भव एवं विकास की दिशा में भारतीय समाज की तत्कालीन साहित्यिक स्थिति से निर्मित जन-चेतना का महत्वपूर्ण स्थान है। “हिन्दी काव्य की सुदीर्घ परम्परा में प्रथमतः आधुनिक युग के प्रारम्भ में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग और रचनाकारों ने अपने युग-जीवन को बहुत गहरे में अनुभव कर उसे साहित्य में वाणी दी है। सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण की दिशा में भारतेन्दु युगीन रचनाकारों ने राष्ट्रीय चिन्तन द्वारा एवं जन-चेतना को विशेष महत्व देकर पूर्ववर्ती रीतिकालीन काल्पनिकता के स्थान पर यथार्थभाव को साहित्य के माध्यम से मुखर किया। समाज के नवनिर्माण के लिए उनका चिन्तन आंग्ल संस्कृति

के अन्धानुकरण अथवा तत्कालीन राजनीतिक गुलामी से मुक्ति ही नहीं, बल्कि प्राचीन भारतीय-संस्कृति की समृद्धी परम्परा और मानवीय मूल्यों के विकास पर केन्द्रित था।¹ साहित्यकार किसी वर्ग से विशेष बंधा नहीं होता वरन् वह तो पूरे समाज का प्रस्तोता होता है। मार्क्स के अनुसार साहित्य अपने आप किसी न किसी वर्ग से सम्बन्धित हो जाया करता है। “साहित्य का अध्ययन शोषण की प्रक्रिया के विरोध में प्रवाहित होती हुई इसी मानवतावादी धारा के परिप्रेक्षण में होना चाहिए। यह महत्वपूर्ण नहीं है कि साहित्यकार किस वर्ग का प्राणी है और न तो उसे रंगे हाथों पकड़ने में ही कोई साहस है। मुख्य प्रश्न है उसकी सहानुभूति को तत्कालीन जन-जागरण के परिदृश्य में परखने का।²”

महान कलाकार और रचनाकार के विषय में डॉ. अनिल कुमार लिखते हैं कि- “सच्चा कलाकार जनता की शक्ति से परिचित होता है। वह अपने काल का स्रोत जनता के हृदय में ढूँढता है। महान कलाकार किसी वर्ग का उसी समय तक साथ देता है, जब तक वह वर्ग जनता के हित में अपना हित सम्पादित किए रहता है, अन्यथा उसकी प्रतिभा सम्पन्न लेखनी से भी असंगतियाँ निसृत होने लगती हैं।³” प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसकी स्थापना से इस बात के लक्षण प्रदर्शित हो रहे थे कि छायावादी साहित्य से लोगों को मन भर चुका था। द्वितीय विश्व युद्ध का दौर था, जिसने विश्व को एक नई सोच विकसित करने का मौका प्रदान किया था। वर्ष 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई जिसके अध्यक्षीय भाषण में मुंशी प्रेमचन्द ने कहा था- “हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।⁴” प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना में विदेशों में रहने वाले भारतीय लेखकों जैसे मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीर, भवानी भट्टाचार्य, जेसी घोष तथा एम. सिन्हा का विशेष सहयोग रहा। प्रगतिशील लेखक संघ के देश के विभिन्न स्थानों पर छः अधिवेशन हुए जिनमें निम्नलिखित बिन्दुओं के रूप में सार तत्व निकलकर सामने आया-

1. राष्ट्रानुराग जगाना, 2. आर्थिक विषमता का चित्र प्रस्तुत करना, 3. सामाजिक बुराइयों को चित्रित करना, 4. शोषण एवं प्रपीड़न का यथार्थ चित्रण, 5. नारी प्रपीड़न के प्रति जनजागरण और 6. मानवीय मूल्यों की स्थापना।

प्रगतिवाद के अस्तित्व में आने के पीछे तत्कालीन साहित्यिक स्थिति का विशद प्रभाव पड़ा है- “ब्रिटिश साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और सामन्तवाद के शोषण-चक्र से प्रताड़ित यह राष्ट्र गरीबी की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। अंग्रेजी शिक्षा नीति से पाश्चात्य-संस्कृति-सभ्यता का प्रवेश तेजी से हुआ। कविता के क्षेत्र में द्विवेदी युग से ही राष्ट्रीय-चेतना और सामाजिक-जागृति की भावना बलवती हो रही थी, जो छायावाद की अंतर्मुखी-चेतना के साथ प्रवाहित होती हुई 1935 के आसपास विकराल रूप में उभरकर, सामाजिक यथार्थ के वृहद्-धरातल पर उजागर हुई। सन् 1920 से 1935 तक छायावाद की कल्पनाशीलता और अन्तर्मुखी प्रवृत्तियाँ

अधिक प्रखर हुई।⁵ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रगतिवाद को समाज से जोड़ते हुए कहा है कि— “प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ है तो इसकी सम्भावनाएँ अत्यधिक हैं। भक्ति आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नए जीवन—दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।⁶ प्रगतिशील में नव—निर्माण की भावना का होना स्वाभाविक है। अतः साहित्य अविराम गति से दृढ़तापूर्वक प्रतिक्रियावाद के गढ़ सामन्तवाद की नींव में सुरंग डालकर उसे तोड़ने की कोशिश करता है, वह पूँजीवाद के सारे हथकण्डों और हरकतों का पर्दाफाश कर जनता के सामने उसका वास्तविक रूप रखता है, उसे तमाम प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना होता है और यह सबकी पोल खोलकर स्पष्ट रूप से सर्वहारा के सामने रख देता है।

प्रगतिवादी साहित्य में समाज में व्याप्त शोषण, धर्मान्धता, आर्थिक विषमता, नारी उत्पीड़न के प्रति जागृति, मानवीय मूल्यों की स्थापना, कृषक एवं मजदूरों के शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी गई। सही मायने में इसे एक साहित्यिक—सामाजिक आन्दोलन कहना उचित होगा। डॉ. ओंकारनाथ श्रीवास्तव ने इस सम्बन्ध में लिखा है— “प्रगतिशील आन्दोलन के सम्बन्ध में यह याद रखना जरूरी है कि वह कोरा साहित्यिक आन्दोलन नहीं है। वस्तुतः वह साहित्य के क्षेत्र में चलाया गया एक सामाजिक—सांस्कृतिक आन्दोलन है। उसने युग के अनुरूप साहित्य रचने की प्रेरणा दी है, मगर उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उसने साहित्य—मात्र के मूल्यों को परखने के लिए एक नई कसौटी दी है।⁷ प्रगतिवादी साहित्य जनजीवन में सौन्दर्य की खोज करते हुए सोद्देश्यता तथा साहित्य की वस्तु के अनुरूप कलात्मक सौन्दर्य को महत्व देता है, अतः उसकी भाषा का चयन जन—जीवन के मध्य से हुआ है। शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति, समाजवादी सिद्धान्तों में आस्था, रूढ़ियों पर कुठाराघात, जनक्रान्ति का समर्थन, पूँजीवाद की समाप्ति, सर्वहारा वर्ग की विजय में विश्वास, नव निर्माण की प्रेरणा जैसे महान विचार प्रगतिवादी रचना में प्रधान स्वर बन कर उभरे हैं। प्रगतिवाद ने नए यथार्थवादी सौन्दर्य—बोध, समाजवादी विचारधारा, मानववाद और जन संस्कृति के उपादानों से कविता को समृद्ध बनाने का प्रयास किया।

डॉ. नगेन्द्र प्रगतिवादी साहित्य के उद्देश्य के बारे में लिखते हैं— “प्रगतिवाद साहित्य को सोद्देश्य मानता है। सोद्देश्यता और प्रचार को एक नहीं कर देना चाहिए। ‘सोद्देश्यता’ का अर्थ है— किसी विशेष अभिप्राय से, किसी विशेष दृष्टि से कला की रचना करना। ‘प्रचार’ का अर्थ है— बहुत स्पष्ट रूप से, किसी सिद्धान्त की दृष्टिकोण की या मान्यता की घोषणा करते फिरना।...वह सामाजिक यथार्थ का इस प्रकार चित्रण करता है कि कुरूप, शोषक, सड़ी—गली विसंगतिग्रस्त शक्तियों का पर्दाफाश हो और नयी सामाजिक शक्तियों के संघर्षों, युयुत्सा और आस्था को बल मिले। साहित्य जनता का जनता के लिए चित्रण करता है। प्रचार साहित्य को हलका बनाता है और सिद्धान्त के स्तर पर मार्क्सवादी दर्शन मनीषियों और साहित्य—चिन्तकों ने साहित्य में प्रचार का विरोध ही किया है।⁸

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी साहित्य की इस विशाल सामाजिक चेतना के मंथन से एक नई पीढ़ी का उद्भव हुआ। प्रगतिवादी काव्यान्दोलन को दिशा देने और सृजनात्मक पृष्ठभूमि पर अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतीय जन-जीवन के सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने और एक आदर्श स्थापित करने वाले प्रमुख प्रगतिवादी कवियों में त्रिलोचन, नागार्जुन, केदार नाथ आदि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। प्रगतिवादी साहित्य ने मार्क्सवादी विचारधारा की लौ से प्रकाश लेकर साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता, वर्ग-संघर्ष, नौकरशाही, सामन्तशाही, पूँजीवाद की समाप्ति, नारी शोषण जैसी सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। प्रगतिवाद में ऐसा साहित्य रचा गया जो न केवल मानवीय विकास में सहायक सिद्ध हुआ अपितु जिसने समस्त संकीर्णताओं को तोड़ते हुए सर्वहारा वर्ग की दबी हुई वाणी को अपनी वाणी देकर समाजवादी भावना को उद्घाटित किया। इसकी पुष्टि हेतु डॉ. नगेन्द्र ने हिन्दी के इतिहास में लिखा है— “प्रगतिवाद ने अपनी सीमाओं के बावजूद हिन्दी-काव्यधारा के विकास में एक बहुत ही महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ा। उसने काव्य को (साहित्य-मात्र को) व्यक्तिवादी यथार्थ के बन्द कमरे से बाहर निकालकर जन-जीवन के बीच प्रवाहित कर दिया, जीवन और साहित्य के मूल्य, सौन्दर्य-बोध और लक्ष्य के समाज के यथार्थ और उसकी रचना से पीड़ा, भाषा को कुहरे से निकालकर धरातल पर प्रतिष्ठित किया।”⁹ प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य का एक अनमोल व विशेष अध्याय है। इसकी ना होने मात्र की कल्पना से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी साहित्य में आम आदमी और किसानों व मजदूरों के बारे में सोचने वाला कोई नहीं रहेगा।

राजनीतिक परिवेश

प्रगतिवाद मूलतः राजनीतिक एवं सामाजिक आग्रहों को लेकर एक काव्यान्दोलन के रूप में उभरा है, किन्तु भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि नैतिक मानवीय मूल्यों को सदा से ही यहाँ के बौद्धिक वर्ग ने अंगीकार किया है। प्रगतिवादी काव्य, उस काव्य को कहा गया है जो छायावाद की शुष्कता और नीरसता की समाप्ति के बाद आरम्भ हुआ। “यह नाम उस काव्यधारा का है जो मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में सामाजिक चेतना और भावबोध को अपना लक्ष्य बनाकर चली। प्रगतिवादी काव्य के उद्भव और विकास में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ तो सहायक हुई ही, साथ ही छायावाद की जन-शून्य होती हुई व्यक्तिवादी वायवी काव्यधारा की प्रतिक्रिया भी उसमें निहित थी। एक ओर भारतीय समाज में उभरता हुआ जन-संकट था, तो दूसरी ओर रूस में मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर स्थापित साम्यवाद था जो वहाँ के विषम संकट और संघर्ष से गुजरे जन-जीवन को बल दे रहा था, जो सामन्तवाद और पूँजीवाद की विभीषिकाओं को कुचलकर सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित कर रहा था।”¹⁰ किसी भी आन्दोलन की पृष्ठभूमि में किसी न किसी परिस्थिति का हाथ होता है। इसी प्रकार प्रगतिवाद का साहित्य में आगमन तत्कालीन परिस्थितियों की ही देन रहा, जिसके लिए साहित्यिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि परिस्थितियाँ प्रभावी रही।

आजादी के प्रथम प्रयास 1857 के विद्रोह के बाद 1876 में देश की राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई। पहले भारतीय संघ की स्थापना हुई, फिर 1885 में बम्बई में भारतीय कांग्रेस का जन्म हुआ। इस कांग्रेस की स्थापना भारतीय स्तर पर हुई थी और अंग्रेजों को इसकी सदस्यता प्राप्त थी। स्वराज्य की मांग करने पर अंग्रेजों ने इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया और स्वतन्त्रता प्रेमियों ने भी अंग्रेजों की चाल समझ ली। 1905 में लार्ड कर्जन ने अपनी विध्वंसक नीतियों के चलते बंगाल के दो टुकड़े कर दिये। वर्ष 1914 में प्रथम विश्व युद्ध हुआ और हिन्दुस्तान ने तन-धन से अंग्रेजों को सहायता दी पर उन्होंने इसके बदले में रोलट एक्ट लगा दिया। वर्ष 1917 में रूसी क्रान्ति हुई, जहाँ जारशाही का अन्त और बोलशेविक शासन की स्थापना हुई। डॉ. पट्टाभि सीतारमैया ने इस काल की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है— “असंख्य किसान सैकड़ों मील चलकर गांवों में आते थे और अपने संगठन अलग-अलग कायम करते थे। ये नये संगठन कम या अधिक परिमाण में कांग्रेस के विरुद्ध होते थे। उन्हें इसके एक उद्देश्य, एक झण्डा और एक नेता मिल गया।”¹¹ स्वतन्त्रता के बाद भारतीय राजनीति का एक ही उद्देश्य था कि किस प्रकार भारत की दयनीय स्थिति को किस प्रकार सुधारा जाये? व्यक्ति के मूल अधिकारों और विकास की सम्भावनाओं को जाग्रत करने के उपाय किए जाये। मलयज ने ‘कविता से साक्षात्कार’ में लिखा है— “हिन्दुस्तान के इस दौर में राजनीति एक ऐसा प्रजातन्त्र है जो व्यक्ति के मूल अधिकारों और विकास की सम्भावनाओं की चेतना को जाग्रत करता है और फिर एक सुस्त व्यवस्था और अकल्पनाशील प्रतिष्ठान द्वारा उन अधिकारों के हनन का अनुभव भी देता है। नेहरू युग की राजनीति ‘भारत एक खोज’ के आधार पर आशावाद से ग्रस्त एक ऐसी राजनीति थी जिसके पैर यथार्थ पर कम स्वर्णिम मानव-भविष्य के स्वप्न पर अधिक टिके थे। यह राजनीति मुख्यतः राजनेताओं की राजनीति थी – प्रतिभा के गौरव से सम्पन्न विशिष्ट राजनेताओं की राजनीति। इसके विपरीत नेहरू युग के बाद की राजनीति आम आदमी की राजनीति है। क्षात्र-असन्तोष, घेराव और दल-बदल में आम आदमी की ही नस बजती है।”¹²

यह सर्वविदित है कि स्वतन्त्रता पूर्व भारतीय समाज की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। ब्रिटिश हुकूमत की क्रूर और शोषणपूर्ण आर्थिक नीतियों से पूरा समाज दिशाहीन और कर्तव्यविमूढ़ था। साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सर्वप्रथम राष्ट्रीयता का बिगुल फूंककर बौद्धिक जागरण का शंखनाद किया, जिसे आधुनिक हिन्दी-काव्य क्षेत्र में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना का बीजारोपण स्वीकार किया जा सकता है। समय एवं परिस्थिति की मांग के अनुरूप सन् 1935 में प्रगतिशील काव्य आन्दोलन का जन्म हुआ और वर्षों से जनमानस के भीतर छटपटाती राजनीतिक-सामाजिक चेतना का उदभासन काव्य विषय बन गया, इसमें प्रथम-प्रमुख तत्व राजनीतिक-चेतना है। राजनीतिक-चेतना को प्रगतिवादी काव्य का मूल उद्देश्य मानते हुए डॉ. उदयनारायण तिवारी ने लिखते हैं— “प्रगतिवादी मूलतः राजनीतिक धरातल पर स्थित है। रचनाओं को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि पूंजीपति के शोषण तथा दुर्व्यवहारों की निन्दा एवं मजदूरों की दीन दशा का दर्शन प्रत्यक्ष ही कर रहा है। कवि के सामने इस युग का मानव-समाज आर्थिक कठिनाइयों से ग्रस्त तथा

राजनीतिक शोषणों से क्षुब्ध ही था।¹³ प्रगतिवाद तत्कालीन प्रतिक्रियावादी और साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ संघर्ष कर नयी व्यवस्था तथा समाज के भावी निर्माण में सक्रिय था।

किसी भी राष्ट्र का आर्थिक संकट राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों पर निर्भर रहता है। साहित्य में सांस्कृतिक आन्दोलन के माध्यम से राजनीतिक सत्ता परिवर्तन का उद्देश्य निहित रहता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हर ओर संघर्ष का बिगुल बज चुका था और प्रबुद्ध वर्ग ने भी अंग्रेज सरकार के खिलाफ मोर्चा खोल दिया था। परन्तु अभी तक भारतीय आम जनमानस अभी तक सोया हुआ था। ऐसी स्थिति में इस आम जन मानस को लक्ष्य प्राप्ति के प्रति जाग्रत करने के लिए तथा स्वराज्य की माँग और जमींदारों तथा पूँजीवादियों के शोषण से बचाने के लिए प्रबुद्ध वर्ग लगा हुआ था। 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' में प्रो. नामवर सिंह लिखते हैं कि— "छायावादी कविता में प्रेम भावना की ही प्रधानता थी और उसमें जो देशभक्ति की कविताएं हुईं भी उनसे लोगों की राष्ट्रीय भावनाओं की परितृप्ति नहीं हो सकी। इस तरह देश की विशेष राजनीतिक परिस्थितियों के कारण पच्चीस-तीस वर्ष पहले वाला व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक जागरण अब केवल राजनीति में केन्द्रित हो गया। छायावाद यदि सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उपज था तो प्रगतिवाद राजनीतिक जागरण की।"¹⁴

सन् 1936-37 में जहाँ राष्ट्र में राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिशील काव्यान्दोलन अपनी जड़ें जमाना आरम्भ कर रहा था, तो दूसरी तरफ छायावाद की रोमान्टिक विकासधारा के पथ पर प्रकारान्तर से नवीन मानवतावादी चिन्तन-धारा में प्रवेश कर रहा था। "गांधीवाद का आदर्श 'रूसी बोल्शेविक क्रान्ति' के प्रभाव से जीवन के व्यावहारिक पक्ष को अधिक महत्व देने लगा था, क्योंकि साहित्य का सम्बन्ध समाज को संचालित करने वाली शक्तियों से होता रहा है। उत्तर छायावाद का यह समय नैराश्य, अध्यात्म, स्थूलता, मांसल अभिव्यक्ति, पलायन, पराजय आदि के स्वरो से डूबा हुआ था। यह स्थिति न केवल भारतीय समाज की थी, अपितु तत्कालीन यूरोपीय जन मानस भी इस त्रासदी से गुजर रहा था। प्रगतिशील हिन्दी कविता में राजनीतिक अभिव्यक्ति की अनिवार्यता युगीन मांग थी। इस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति में प्रगतिशील साहित्य के निर्माण की पृष्ठभूमि को रेखांकित करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है— 'प्रगतिशील साहित्य संज्ञा का प्रचार यूरोप में उस समय हुआ था जब समाज और साहित्य की गति में एक प्रकार की स्थिरता अथवा कुछ-कुछ त्रास का अनुभव किया जा रहा था। इस दमघोंटू स्थिर शीलता से उबरने के लिए वहाँ के लेखकों ने प्रगति का नारा लगाया था।'¹⁵ वर्ष 1936 के पश्चात् भारतीय राजनीति में जो बदलाव आये, उसका श्रेय 1930 के गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन की असफलता और उससे उत्पन्न राष्ट्रवादी संघर्ष को जाता है।

इसके परिणामस्वरूप में समाजवादी आन्दोलन, किसान आन्दोलन आदि शुरू हुए। यूं तो कांग्रेस ही उस समय की राजनीतिक विधारधारा के रूप में राजनीति का मुख्य आधार बनी थी। इन आन्दोलनों के परिणामों से एक नवीन विचारधारा प्रगतिशील लेखक संघ के रूप में 1936 में बने प्रगतिशील लेखक संघ के रूप में सामने आई। यह वो दौर था जब भारतीय जनता स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रही थी और विदेशी आक्रान्ताओं ने

भारतीयों की शक्ति रौंदने की तैयारी कर ली थी। ऐसी स्थिति में देश का प्रत्येक बच्चा, बूढ़ा और नौजवान एक बहादुर सिपाही की भांति उसकी रक्षा के लिए खड़ा था, ऐसी स्थिति में प्रबुद्ध वर्ग भला पीछे कैसे रह सकता था। “छायावाद के कवि निराला एवं पन्त ने सन् 1935–36 में प्रगतिशील चेतना से प्रभावित होकर सामाजिक यथार्थ की कविताएं लिखी हैं। पश्चात् प्रगतिशील काव्यान्दोलन के दौर में नागार्जुन, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह व छठवें–सातवें दशक में अरुण कमल, राजकमल चौधरी, धूमिल, अजित पुष्कल आदि कवियों ने जनवादी चेतना की कविता लिखी। सन् 60 के बाद प्रगतिशील काव्य में यथार्थ–चेतना का प्रखर रूप सामने दिखाई देता है।”¹⁶ शास्त्री जी ने पूंजीवादी व्यवस्था और सामन्ती प्रवृत्तियों से उपजते सामाजिक विद्रोह की भावना को प्रतिक्रियात्मक बोध के साथ अभिव्यक्त किया है। सामान्य जन–जीवन की निराशा और संत्राश की मार्मिक अनुभूति उनकी रचनाओं में है। उन्होंने जन–जीवन की संवेदना और करुणा को इस प्रकार लिखा है—

सपने ही हैं यह जो मुझको भरमाते हैं,
चक्कर पर चक्कर / यह चिन्ता वह चिन्ता,
इतिहास यही जीवन का / मोहन,¹⁷

सन् 1936–37 में जहाँ राष्ट्र में राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिशील काव्यान्दोलन अपनी जड़ें जमाना आरम्भ कर रहा था, तो दूसरी तरफ छायावाद की रोमान्टिक विकासधारा के पथ पर प्रकारान्तर से नवीन मानवतावादी चिन्तन–धारा में प्रवेश कर रहा था। “गांधीवाद का आदर्श ‘रूसी बोल्शेविक क्रान्ति’ के प्रभाव से जीवन के व्यावहारिक पक्ष को अधिक महत्व देने लगा था, क्योंकि साहित्य का सम्बन्ध समाज को संचालित करने वाली शक्तियों से होता रहा है। उत्तर छायावाद का यह समय नैराश्य, अध्यात्म, स्थूलता, मांसल अभिव्यक्ति, पलायन, पराजय आदि के स्वरो से डूबा हुआ था। यह स्थिति न केवल भारतीय समाज की थी, अपितु तत्कालीन यूरोपीय जनमानस भी इस त्रासदी से गुजर रहा था। प्रगतिशील हिन्दी कविता में राजनीतिक अभिव्यक्ति की अनिवार्यता युगीन मांग थी। इस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति में प्रगतिशील साहित्य के निर्माण की पृष्ठभूमि को रेखांकित करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है— ‘प्रगतिशील साहित्य संज्ञा का प्रचार यूरोप में उस समय हुआ था जब समाज और साहित्य की गति में एक प्रकार की स्थिरता अथवा कुछ–कुछ त्रास का अनुभव किया जा रहा था। इस दमघोंटू स्थिर शीलता से उबरने के लिए वहाँ के लेखकों ने प्रगति का नारा लगाया था।’¹⁸ वर्ष 1936 के पश्चात् भारतीय राजनीति में जो बदलाव आये, उसका श्रेय 1930 के गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन की असफलता और उससे उत्पन्न राष्ट्रवादी संघर्ष को जाता है।

इसके परिणामस्वरूप देश में समाजवादी आन्दोलन, किसान आन्दोलन आदि शुरू हुए। यूं तो कांग्रेस ही उस समय की राजनीतिक विधारधारा के रूप में राजनीति का मुख्य आधार बनी थी। इन आन्दोलनों के परिणामों से एक नवीन विचारधारा प्रगतिशील लेखक संघ के रूप में 1936 में बने प्रगतिशील लेखक संघ के रूप में सामने आई। यह वो दौर था जब भारतीय जनता स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रही थी और विदेशी

आक्रान्ताओं ने भारतीयों की शक्ति रौंदने की तैयारी कर ली थी। ऐसी स्थिति में देश का प्रत्येक बच्चा, बूढ़ा और नौजवान एक बहादुर सिपाही की भांति उसकी रक्षा के लिए खड़ा था, ऐसी स्थिति में प्रबुद्ध वर्ग भला पीछे कैसे रह सकता था। “छायावाद के कवि निराला एवं पन्त ने सन् 1935–36 में प्रगतिशील चेतना से प्रभावित होकर सामाजिक यथार्थ की कविताएं लिखी हैं। पश्चात् प्रगतिशील काव्यान्दोलन के दौर में नागार्जुन, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह व छठवें–सातवें दशक में अरुण कमल, राजकमल चौधरी, धूमिल, अजित पुष्कल आदि कवियों ने जनवादी चेतना की कविता लिखी। सन् 60 के बाद प्रगतिशील काव्य में यथार्थ–चेतना का प्रखर रूप सामने दिखाई देता है।”¹⁹ शास्त्री जी ने पूंजीवादी व्यवस्था और सामन्ती प्रवृत्तियों से उपजते सामाजिक विद्रोह की भावना को प्रतिक्रियात्मक बोध के साथ अभिव्यक्त किया है। सामान्य जन–जीवन की निराशा और संत्राश की मार्मिक अनुभूति उनकी रचनाओं में है। उन्होंने जन–जीवन की संवेदना और करुणा को इस प्रकार लिखा है–

सपने ही हैं यह जो मुझको भरमाते हैं,
चक्कर पर चक्कर / यह चिन्ता वह चिन्ता,
इतिहास यही जीवन का / मोहन,²⁰

त्रिलोचन को इस बात की चिन्ता सता रही है कि जो सपने में देख रहा हूँ, जिनके कारण मैं इधर–उधर से फिर रहा हूँ, कभी पूरे होंगे या नहीं। गरीबी, शिक्षा का अभाव, अंग्रेज शासकों के अत्याचार, कृषि क्रांति का अभाव, आर्थिक शोषण और युद्ध की विभीषिकाएँ जैसी परिस्थितियों ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी जिसने तत्कालीन भारत की राजनीतिक व्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित किया, लेकिन ऐसे में प्रगतिवादी चेतना एक सम्बल के रूप में सामने आयी और भारतीय जनमानस को उत्साह और संचार से भर गयी। इस चेतना को जाग्रत करने में तद्युगीन राजनीतिक परिवेश का विशेष योगदान रहा। चेतनशील और विवेकशील साहित्यकारों व राजनीतिज्ञों ने देश को स्वतन्त्रता का वह नायाब तोहफा दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिसे प्राप्त करने में बरसों का समय और हजारों–लाखों कुर्बानियाँ दी गयीं।

धार्मिक परिवेश

भारत में धर्म के प्रति आस्था इस तरह समायी हुई है कि धर्म और मनुष्य को अलग करना मुश्किल ही नहीं अपितु असम्भव भी है। “धर्म के प्रति गहरी आस्था तो ठीक है लेकिन जनता में अशिक्षा के कारण कुछ रूढ़ियाँ भी धर्म के साथ इतनी घुल मिल जाती हैं कि वे भी धर्म का एक स्वरूप बन जाती हैं। धर्म तथा भगवान के नाम पर जनता में अनेक रूढ़ियाँ इस प्रकार जकड़ी हैं कि व्यक्ति का स्वतन्त्र चिन्तन महत्वहीन हो जाता है। “जाति, सम्प्रदाय, धर्म, सीमित भू–भाग आदि की संकीर्णता के स्थान पर क्रमशः एक समग्र देश और उसके भीतर निवास करने वाली समस्त जातियों, भिन्न–भिन्न भू–खण्डों, सम्प्रदायों और रीति–रिवाजों के लोगों का संश्लिष्ट, सामूहिक रूप उभरता गया है। कहना न होगा कि अंगरेजों के आने के समय तक अपनी

सांस्कृतिक एकता के बावजूद भारत व्यावहारिक रूप से भिन्न-भिन्न राज्यों में बंटा हुआ था। वास्तव में पूरे भारतवर्ष की एकता के अर्थ में राष्ट्रीयता का विकास आधुनिक काल में हुआ। अंगरेजों ने समूचे देश में एक शासन स्थापित किया, जिससे पूरे देश के लोग एक राजा की प्रजा हुए और पूरे देश को समान यातना का अनुभव हुआ। अपने-अपने में बंटे हुए लोगों को यह प्रतीत हुआ कि वे सब मिलकर एक हैं, वे चाहे किसी जाति या धर्म के हों, अंगरेजों के गुलाम हैं। और फिर जब अंगरेजी शासन के विरुद्ध मुक्ति का अभियान आरम्भ हुआ तो मुक्ति की चेतना किसी धर्म या प्रदेश में सीमित न रहकर पूरे देश में व्याप्त हुई।²¹

समाज में अन्धविश्वास का बोलबाला हो रहा था। लोग अकर्मण्य हो गये थे और स्वार्थ-सिद्धि के लिये कुछ भी करना पड़ जाये तो करने से नहीं हिचकते थे। “समाज में धर्म का अन्धविश्वासी स्वरूप प्रभाव जमाए हुए था। धर्म की आड़ लेकर लोगों को बुरी तरह सताया जा रहा था। धर्म के आन्तरिक मूल्य पर पर्दा डालकर उसके बाह्य स्वरूप से लोगों को गुमराह किया जा रहा था। आंग्ल प्रशासन में धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या हुई। धर्म के ठेकेदारों के चंगुल से धर्म को छुड़ाने में आंग्ल प्रशासन का सराहनीय योगदान रहा। सत्य, सहानुभूति, प्रेम जैसे मानवीय भावों को धर्म का वास्तविक रूप बताया गया तथा कर्मकाण्डों को मात्र ढोंग करार दिया गया। वर्ग विशेष की अहमन्यता, जातिपरक झूठा अभियान, संकीर्णता तथा अन्धविश्वास के भयानक मेघखण्ड धीरे-धीरे छटने लगे। स्वर्ग और मोक्ष के लुभावने कणों को फेंककर धर्म के ठेकेदार, जा एक अर्से से भारतीय जनता को गुमराह कर रहे थे, उनका आधिपत्य समाप्त होने लगा। ईसाई मिशनरियों के उपदेश धर्म के बाह्याडम्बर के आतप से तपे एवं प्यासे भारतीय समाज को शीतल जल की भांति प्रिय एवं आनन्ददायक लग रहे थे। ‘ब्रह्म समाज’ तथा ‘रामकृष्ण सेवा आश्रम’ जैसी संस्थाओं ने धर्म का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत किया। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के फलस्वरूप श्रुतियों की वैज्ञानिक व्याख्या हुई। ढोंगी ठेकेदारों ने स्वामी विवेकानन्द पर अधार्मिक होने के अनेक लांछन लगाये। इन झूठे आरोपों से स्वामी जी तिलमिला उठे। पुनरुत्थानवादियों द्वारा धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या हुई और धर्म को वैज्ञानिक चरण प्राप्त हुए।²² कुल मिलाकर यह युग धर्म के परिप्रेक्ष्य में काफी अशक्त रहा। धर्म मात्र लोगों का डराने-धमकाने और धार्मिक अन्धविश्वास फैलाने का कार्य कर रहा था।

सांस्कृतिक परिवेश :

हमारे देश में लोक-चेतना, लोकगीतों तथा लोक प्रथाओं का अध्ययन 19वीं शती में ईसाई मिशनरियों ने आरम्भ किया। इनका आगमन उन यूरोपीय देशों से हुआ था, जहाँ औद्योगिक विकास, मध्य वर्ग का उदय एवं राष्ट्रीयता की जागृति बहुत पहले हो चुकी थी। तत्कालीन भारतीय समाज को जितना साहित्यिक परिवेश से संरक्षण मिला, उससे ज्यादा नुकसान राजनीतिक परिवेश के कारण हुआ। इस सम्बन्ध में डॉ. अनिल कुमार ने कहा है— “समाज में जब तक रूढ़ियों का प्रभाव रहता है, वह कभी विकास नहीं कर सकता। इन्हीं रूढ़ियों से कबीर को सख्त नफरत थी। धर्म में व्याप्त रूढ़ियों को समाज को निर्बल बना देती हैं, हमारा विकास रूढ़ियों

से अवरुद्ध हो जाता है। ये सारी रूढ़ियां धर्म में स्थान पाती हैं और धर्म के ठेकेदार इन्हीं रूढ़ियों में दबोच कर समाज का रक्त पीते हैं। सीधे-साधे लोगों को ये छद्मवेशधारी स्वर्ग का लोभ दिखाकर ठगते हैं।²³ राजनीति की रणनीतियों व सामाजिक कुरीतियों ने समाज को दीमक की भांति क्षत-विक्षत कर दिया था। रही-सही कसर सांस्कृतिक परिस्थितियों ने पूरी कर दी।

राजनीति के कारण वर्ग-भेद उभरकर सामने आने लगे। देश के सत्ताधीशों ने अपने पद का दुरुपयोग आरम्भ कर दिया। समाज के ठेकेदारों ने धर्म के आधार पर समाज में अन्धविश्वास फैलाकर और देश की भोली-भाली जनता को ठगना आरम्भ कर दिया। यह वो दौर था जब द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हुए कुछ ही समय हुआ था और आमजन, साहित्यकारों व पश्चिमी सभ्यता में विचारधारा का आदान-प्रदान हो रहा था। रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं कि- “सांस्कृतिक दृष्टि से द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त का युग भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओं के संघर्ष का युग है। इस संघर्ष के हमारा जीवन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक आदि सभी क्षेत्रों में प्रभावित हुआ है। इस युग में स्वतन्त्रता की प्राप्ति एक अपूर्व घटना है जिसे प्रायः एक शताब्दी के प्राचीन राष्ट्रीय संघर्ष की उपलब्धि कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता के अनन्तर समस्त देश में जनवादी प्रवृत्तियों को विकास का धरातल प्राप्त हुआ है। स्वतन्त्र भारत की नवीन व्यवस्था में गाँधीवाद और समाजवाद का संघर्ष भारतीय और पाश्चात्य के संघर्ष के रूप में निरन्तर विकासमान रहा है। इस युग में महात्मा गाँधी के रामराज्य और सर्वोदय समाज के आदर्शों के अनुरूप राजनीति, धर्म, समाज और अर्थ व्यवस्था को भारतीय दृष्टिकोण का प्रतिफलन कहा जा सकता है।²⁴ तत्कालीन भारतीय समाज में सांस्कृतिक परिवेश पर डॉ. अशोक वाजपेयी लिखते हैं- “हर समय में समाज में दो संस्कृतियाँ रहती हैं : एक वह, जो गहरी प्राणवत्ता से, मनुष्य के अस्तित्व और उसकी नियति और अति जीवन से अपने को प्रतिबद्ध करती है और दूसरी वह, जो काम चलाऊ है और वर्तमान में ही सफलता को अपना अभीष्ट मानती है। साहित्य पहली प्रकृति की उपज और अंग है और वह निरन्तर दूसरी के विरुद्ध लड़ता है।²⁵

अनेकता में एकता भारत की पहचान है। यहाँ विभिन्न सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं और एक-दूसरे के सुख-दुख में शामिल होते हैं। भारत की सांस्कृतिक विरासत विशिष्ट है। श्रीकान्त वर्मा के संस्कृति सम्बन्धी विचार इस प्रकार हैं- “एक भारतीय संस्कृति नहीं, कई भारतीय संस्कृतियाँ हैं। एक भारतीय संस्कृति का व्यापार प्रयाग और हरिद्वार के पण्डे करते हैं। दूसरी भारतीय संस्कृति का व्यापार साहित्य के पण्डे करते हैं। तीसरी भारतीय संस्कृति का व्यापार पर्यटक, योगी, संन्यासी और उपदेशक करते हैं। चौथी भारतीय संस्कृति का व्यापार भारत सरकार की सांस्कृतिक संस्थाएँ करती हैं।²⁶ स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत के सांस्कृतिक जीवन में अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों का आगमन होने के परिणामस्वरूप एक देश से दूसरे देश के सांस्कृतिक आदान-प्रदान आरम्भ हुआ। इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान से ही अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व की भावनाएँ पुष्पित एवं पल्लवित हो सकीं। धर्म ने सत्य और प्रेम को मानवीय गुणों का वास्तविक रूप बताया। कर्मकाण्डों को ढोंग बताते हुए संकीर्णताओं, अन्धविश्वासों का विरोध किया गया। धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या

प्रस्तुत की गयी, ताकि भोली जनता धर्म के कथित ठेकेदारों के चंगुल से स्वतन्त्र रह सके। इस पुनीत कार्य में ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द आदि ने अपने कार्यों व उपदेशों के माध्यम से अन्धविश्वास व बाह्याडम्बरों से भारतीय समाज को मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त किया।

सामाजिक परिवेश :

अंग्रेजों ने भारत का आर्थिक शोषण करीब दो सौ वर्षों तक किया। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक विकास के मार्ग अवरुद्ध होते गये। अंग्रेज भारत को मात्र लाभ दिलाने वाला एक महत्वपूर्ण उपनिवेश मानते थे। इस बारे में प्रो. नामवर सिंह ने लिखा है— “अंग्रेजी राज में भारतीय उद्योग और व्यापार का नाश हुआ। अंग्रेजी राज में मंहगाई बराबर बढ़ रही थी। अतः उन्होंने प्रशासनिक आधारों पर घोषित-अघोषित रूप से इस देश में फूट डालने की नीति से समाज को कई वर्गों में बांट रखा था। लार्ड मैकाले की शिक्षा नीति से मध्य वर्ग और श्रमिक वर्ग को बौद्धिक विकास का लाभ नहीं मिला। मध्य वर्ग इज्जत से रहना चाहता था। अतः वह सामाजिक प्रताड़ना का शिकार हुआ। पिछली शताब्दी से ही देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ने से समाज में वर्ग-विषमता आने लगी थी।”²⁷ अंग्रेजी शासन ने देश को आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक नुकसान पहुँचाया। “ब्रिटिश शासन की क्रूरता से देश का शोधन तो हुआ ही, साथ ही साथ सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्र में हीनता की भावना भी बलवती हुई। सामाजिक उत्थान के लिए विज्ञान ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस समय देश कई वर्गों में विभाजित था। पराधीनता के दौरान देश में अनेक वादों, धार्मिक सम्प्रदायों और भक्ति मार्गों की सृष्टि हुई।”²⁸ प्रगतिवाद के इस दौर में देश की सामाजिक स्थिति पर अंग्रेजों का प्रभाव पड़ा हुआ था। ऐसी स्थिति से भारतवासियों को निकालने की कोशिश प्रगतिवाद के कवियों ने की। अपने समस्त काव्य में इस काल के कवियों ने तत्कालीन भारत की दशा-दिशा को सुधारने का प्रयास किया है।

डॉ. कृष्णलाल पन्त के अनुसार— “मुस्लिम शासन-काल में ही भारत की सामाजिक स्थिति बड़ी भयावह हो गयी थी। अंग्रेजी शासन की स्थापना के पश्चात् भी इस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भारतीय समाज अनेक मत-मतान्तरों में विभाजित था। जिसे अंग्रेजों की फूट डालो नीति ने साम्प्रदायिक संघर्ष तक पहुँचा दिया। मुस्लिम लीग और कांग्रेस के साम्प्रदायिक संघर्ष इसके परिणाम हैं जिसे आजादी के बाद भी यह राष्ट्र बेतरह भुगत रहा है।”²⁹ मुगल काल में भारत की सामाजिक स्थिति बहुत ही अव्यवस्थित रही। इस काल में अनेक कुप्रथाएँ थी जो अंग्रेजों के शासन तक चली आ रही थी। राजा राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज की स्थापना करके बाल-विवाह का भरसक विरोध किया तथा विधवा विवाह को बाद में अंग्रेजों द्वारा कानून के रूप में पारित करवाके कानून का रूप दिलवाया। आर्य समाज के संस्थापक व महान समाज सुधारक स्वामी दयानन्द ने अनेक कुरीतियों पर रोक लगायी। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना करके समस्त भारतीय धर्मों का समन्वय किया। सामाजिक परिवर्तन की दिशा में प्रगतिवादी कवि, चिन्तक और विचारक क्रान्ति की अनिवार्यता व आवश्यकता पर जोर दिया है। सामाजिक स्थिति में असमानता

और अविश्वास की खाई उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होने लगी थी। पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था के आर्थिक दृष्टिकोण से समाज का निम्नवर्ग हमेशा शोषित होता रहा है। शोषक वर्ग अपने प्रपंचों को ढकने के लिए आदर्शों का ढिंढोरा पीटता जाता है। स्वाधीनता प्राप्ति के लिए समाज के सभी वर्गों में विद्रोह की भावना पूरी तरह घर कर चुकी थी। ऐसी स्थिति में प्रगतिवादी-काव्य के विकास के पूर्व छायावादी रचनाकारों जयशंकर प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा आदि ने अपनी रचनाओं के माध्यम मानवतावादी दृष्टिकोण को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

नवीन समाज की स्थापना के लिए राष्ट्रीय जागरण को लक्ष्य बताते हुए डॉ. रमाकान्त शर्मा लिखते हैं—
 “छायावादी कवियों की एक स्वस्थ मानवतावादी सामाजिक व्यवस्था की मांग बड़ी तीव्रता से व्यक्त हुई है। प्राचीन रूढ़ियों को तोड़कर कवियों ने नये प्रबुद्ध समाज की स्थापना का प्रयत्न किया। नवीन राष्ट्रीय चेतना में जो जागरण की अभेद भावना थी, उसमें सब के कल्याण और विकास की वृत्ति सर्वोपरि है। किसी भी राष्ट्र का विकास एकांगी प्रयत्नों से नहीं होता। आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों से क्रमशः परिष्कार की दृष्टि आधुनिक काव्य में प्रारम्भ से दिखाई देती है। सबसे प्रबल प्रवृत्ति राष्ट्रीय पराधीनता से मुक्ति के सहारे नवीन समाज की स्थापना का सर्वांगीण विकास राष्ट्रीय जागरण का लक्ष्य था।”³⁰ बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक तक देश गुलाम था। आजादी के दीवाने कसमसा रहे थे और देश को आजाद कराने के लिए संघर्ष कर रहे थे। अंग्रेजी प्रशासन ने भारतीय समाज को निर्बल कर दिया था जिसके लिये साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, पूँजीवाद और अन्य अनेक कारणों के कारण शोषक नीति कार्य कर रही थी। “आंग्ल प्रशासन की शोषण नीति ने समाज में घोर अव्यवस्था पैदा कर दी। समाज में अन्तर्गत एक नहीं, अनेक दोष जोरों से पनप रहे थे। बाल-विवाह, नारी-शोषण तथा अस्पृश्यता सभी मानव समाज को शनैः शनैः अव्यवस्थित एवं अशान्त कर रहे थे। भारतेन्दु जी आंग्ल प्रशासन की अच्छाई के प्रति भी सजग रहे। ब्रिटिश हुकूमत ने अपने व्यापार के परिवर्धन के लिये देश में अमन-चैन स्थापित करने की पूरी व्यवस्था की थी। पर उनकी शोषण की नीति समूचे राष्ट्र को खोखला करती जा रही थी।”³¹ प्रगतिवादी साहित्य का मूल उद्देश्य समाज की उन घृणित रूढ़ियों को दूर करना था, जिनसे राष्ट्र घिरकर विकास में पीछे होता जा रहा है। हमारे देश में ऐसी बहुत सी रूढ़ियाँ हैं, जो हमें विश्व-विकास की घुड़दौड़ में काठियावाड़ी घोड़े बना रही हैं। महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता को एक राजनैतिक मुद्दा बनाया और सभी राष्ट्रीय आन्दोलनों के साथ इसे भी एक आन्दोलन के रूप में चलाया। हमारा साहित्य सन् 1850 से ही इन रूढ़ियों के विरुद्ध नारा लगा रहा है। स्वतन्त्रता पूर्व इन रूढ़ियों को ध्वस्त करने की आवाज भले ही फीकी रही हो, लेकिन यह प्रगतिवादी साहित्य के लिये एक ठोस आधार बनी। प्रगतिवादी साहित्य सन् 1936 से ही पुरानी परम्पराओं पर तीव्र आघात कर रहा है। प्रगतिवादी साहित्यकार भली-भांति जानते थे कि शोषण का एक आधार हमारी परम्पराएं और रूढ़ियां हैं। अस्पृश्यों के दिल में हीनता की भावना बैठ चुकी थी कि वे सवर्णों से नीचे हैं तथा उनकी गुलामी व सेवा करना उनके जीवन का नैतिक उद्देश्य है। ऐसी हीन भावनायें समाज में फैलाकर शोषण के लिये एक विस्तृत क्षेत्र तैयार

कर रही है। प्रगतिवादी साहित्य इन्हीं रूढ़ियों और परम्पराओं को आमूल समाप्त करने के लिये सतत प्रयत्नशील है। यह पूर्णतः समाज-सापेक्ष साहित्य है। इस युग के साहित्यकारों का शौक कविता बनाना नहीं, अपितु समाज में व्याप्त वेदना को सीधे-सादे शब्दों में निकाल देना है।

रीतिकाल की संकीर्ण सामन्ती मान्यताओं को तोड़ती हुई, भारतीय जन-समूह का दुख-दर्द, ओज, प्रेम, कर्मण्यता, जातीय गौरव और यथार्थता का दर्पण बनी और सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भारतीय जनमानस को उभारने में भारतेन्दुयुगीन काव्यधारा अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई। भारतेन्दुयुगीन समाज विदेशी आक्रमणकारियों से प्रभावित रहा है। इस आक्रमणकारी अव्यवस्था से मानवीय चेतना भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। वह मानवीय चेतना जो मानव की उन्नति में सहायक सिद्ध होती है। जीवन की इस त्रस्तता का सामाजिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। सम्पूर्ण समाज में रूढ़ियों व अन्धविश्वास का बोलबाला था जिसके कारण भारतीयों की चेतना-शक्ति शून्य हो गयी थी। बाल-विवाह, सती-प्रथा, मद्यपान तथा अस्पृश्यता जैसी बुराइयाँ समाज में अपना प्रभाव जमा चुकी थी। भारतीय समाज पर विदेशी आक्रान्ताओं के आधिपत्य ने देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर दिया था। विदेशों से कच्चे माल को भेजकर तैयार माल फिर भारत में मंगाना और उसे अधिक दाम पर बेचने पर भारतीय कुटीर उद्योग घुटने टेकने पर मजबूर हो गये थे। ऐसे समय में भारतीय कवियों की राष्ट्रीय व सामाजिक चेतना, भक्ति भावना, शृंगारिकता, समस्यापूर्ति, हास्य-व्यंग्य तथा समकालीन परिवेश के प्रति जागृति आदि प्रवृत्तियों ने समाज और राष्ट्र के लिए लोक मंगलकारी दृष्टि प्रदान की।

त्रिलोचन शास्त्री हिन्दी साहित्य के लिए ही वरन् सम्पूर्ण विश्व साहित्य के लिए एक नई दृष्टि लेकर आए। उन्होंने मानव को नई ऊर्जा से लबरेज करने का अनोखा प्रयास किया है। त्रिलोचन जीवन भर लिखते रहे, उन्होंने लगभग 16 ग्रन्थों का प्रणयन किया है और प्रत्येक संग्रह एक नई ताजगी से ओतप्रोत है। त्रिलोचन की एक सबसे खास बात यह है कि उन्होंने कभी भी अपने ऊपर संघर्ष को हावी नहीं होने दिया। उन्होंने अपने लगभग साठ वर्ष लम्बे लेखन और कठिन जीवन को जीते हुए बीसवीं सदी की आधुनिक कविता, साथ ही भारतीय समाज के पराधीन और स्वाधीन जीवन को अपनी खुली आँखों से लगातार देखा-भोगा है। जीवन की इस लम्बी यात्रा में स्वच्छन्द जीवन का चुनाव करते हुए वे हिन्दी समाज के लगभग सभी समूहों में वास करते, दर-ब-दर की खाक छानते हुए कविता को परिष्कृत करते रहे। इस लम्बी यात्रा में त्रिलोचन की जिन्दगी हमेशा एक कौतूहल, एक विस्मय बनी रही।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में त्रिलोचन लोक कवि के रूप में प्रसिद्ध है। भारतीय समीक्षकों ने उन्हें ग्रामात्मा कहकर सम्बोधित किया है। त्रिलोचन हिन्दी साहित्य में एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने स्वयं को सौन्दर्य की अन्तःगरिमा के साथ, लोक-जीवन से पूरी तरह जोड़ लिया है। त्रिलोचन के लिए रचना किसी तनाव से मुक्त होने में नहीं, बल्कि जीवन का कुछ खोजकर प्राप्त करने और फिर उसे बाँट देने में होती है। इसीलिए उनकी कविता की रचना-प्रक्रिया का कोई रहस्यमय पक्ष नहीं है। कला त्रिलोचन के लिए एक ऐसा आईना है

जिसमें वे अपनी और दूसरों की अनुभूतियों के मर्म को सजीव थिरकते हुए रूपों में दिखा सकें। और इसमें उनकी कलाकारिता बस इतनी है कि वे उस आँसू पर जरा भी धूल-धब्बा न पड़ा रहने दें, उसे मूल रूप में पारदर्शी रखें। त्रिलोचन शास्त्री मूलतः ग्रामीण परिवेश से जुड़े हुए हैं। किसान और किसानी ने त्रिलोचन के काव्य में पर्याप्त स्थान प्राप्त किया है। त्रिलोचन मूलतः किसान पृष्ठभूमि से सम्बन्धित रहे हैं। यहीं से त्रिलोचन को कविता का संस्कार गाँव की सरस संस्कृति से प्राप्त हुआ है। शास्त्री जी ने अपने काव्य में ग्रामीण जीवन के जितने परिदृश्य स्थापित किए हैं, उतने परिदृश्य अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलते। मूलतः उनके काव्य-विषय ग्राम, ग्रामीण और ग्रामों से जुड़ी हर तरह की भाव-भंगिमा ही है। त्रिलोचन की कविताओं का सम्बन्ध है उनका गाँव की धरती से निकट का सम्बन्ध है। त्रिलोचन ने भारतीय ग्रामीण परिवेश के किसानी रूप और जन-संस्कृति का भरपूर चित्रण किया है।

त्रिलोचन शास्त्री स्वाभिमानी कवि थे। जितना मिला और जैसा मिला, उसी में उन्होंने स्वयं को मस्त रखा। ऐसा कोई वाक्या सुनने में नहीं आता कि त्रिलोचन शास्त्री ने कभी किसी के सामने हाथ फैलाए हों। यदि वे चाहते तो प्रगतिशील कवियों जैसे नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल कवियों में सबसे आगे होते। बस उन्होंने अपने स्वाभिमान का कभी सौदा नहीं किया। त्रिलोचन शास्त्री बड़े ही अकखड़, स्थिर चित्त वाले तथा मस्तमौला व्यक्ति थे। बनारस में कहीं भी एक जगह स्थायी नौकरी नहीं की, अपितु कई जगह नौकरियाँ कीं, मगर कहीं भी ज्यादा दिन टिक नहीं सके। बनारस जैसे बड़े शहर में त्रिलोचन का इतिहास क्लर्की का इतिहास रहा है। त्रिलोचन शास्त्री अपने जीवन में कुछ दिन काम करते, कुछ दिन इधर-उधर मस्ती में बिताते तथा दर-दर की ठोकें खाते और भटकते रहे, लेकिन उनके सामने ऐसी परिस्थितियाँ थी कि कहीं भी शान्तिपूर्ण ढंग से स्वाभिमान खोकर नहीं टिके। न तो ढंग की नौकरी, न ढंग का वेतन, न इज्जत देने वाले मालिक तथा न सुविधापूर्ण जीवन-स्थितियाँ, परिणाम यह होता था कि या तो उन्होंने ऊबकर नौकरी खुद छोड़ दी या उन्हें इस कदर परेशान किया जाता कि वे नौकरी छोड़ने के लिए मजबूर दिखाई देते। कभी नौकरी मिल जाती और कभी छूट जाती। इस दौरान उनका जीवन अस्त-व्यस्त रहा था।

त्रिलोचन ने अपनी कविताओं व गीतों में ग्रामीण और किसान-मजदूरों के संघर्षों को बड़े ही सुन्दर व सरस ढंग से पेश किया है। त्रिलोचन शास्त्री ऐसे कवि हैं जो किसान जीवन की दयनीयता से द्रवित होकर उसकी व्यथा-कथा कहते हैं या किसान-जीवन की सादगी और पवित्रता का गर्वोक्ति गान करते हैं। त्रिलोचन की कविता के बारे में यह कहना काफी नहीं है कि वह किसानों के जीवन-संघर्ष की कविता है। यह भी देखना जरूरी है कि वे किसान जीवन के यथार्थ को किस दृष्टि से देखते और चित्रित करते हैं। हिन्दी में किसान जीवन के वर्णन करने वाले कवियों की कमी नहीं है। उनमें अधिकांश कवि मध्यवर्गीय दृष्टि से किसान जीवन के यथार्थ को देखते और जीते रहे हैं। वे कभी समय की माँग और कभी बौद्धिक सहानुभूति के कारण किसान-जीवन की कविता लिखते हैं। ऐसी कविताओं में कहीं कवि तटस्थ दर्शक की तरह होता है तो कहीं किसानों का हिमायती। इनसे भिन्न मध्यवर्गीय दृष्टि के कवि हैं जो किसान जीवन की दयनीयता और दरिद्रता

से द्रवित होकर उसकी व्यथा-कथा कहते हैं या किसान जीवन की सरलता, सादगी और पवित्रता का गौरव-गान करते हैं। त्रिलोचन ऐसे कवि नहीं हैं। उनकी दृष्टि एक सजग किसान की दृष्टि है जो उस जीवन को जीते, देखते, सुनते और समझते हुए कवि को मिली है। इसलिए उसमें मध्यवर्गीय तटस्थता और भावुकता का भाव मात्र नहीं है। उनमें किसान जीवन से आत्मीयता और तादात्म्य है, लेकिन उस जीवन में मौजूद रूढ़ियों की आलोचना भी है। उनकी दृष्टि किसान जीवन की समग्रता को देखती है। वह उस जीवन की शक्ति के स्रोतों की खोज करती है, जो जड़ता की जड़ों पर प्रहार भी करती है। त्रिलोचन इसी सजग किसान-दृष्टि से प्रकृति, समाज और विश्व को देखते और जीते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

- 1 प्रगतिवाद काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना, विद्या प्रधान, पृष्ठ- 13
- 2 आधुनिक भारतीय समाज एवं प्रगतिशील चेतना, डॉ. अनिल कुमार, पृष्ठ- 41
- 3 आधुनिक भारतीय समाज एवं प्रगतिशील चेतना, डॉ. अनिल कुमार, पृष्ठ- 41
- 4 आधुनिक भारतीय समाज एवं प्रगतिशील चेतना, डॉ. अनिल कुमार, पृष्ठ- 11
- 5 प्रगतिवाद काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना, विद्या प्रधान, पृष्ठ- 37-38
- 6 छायावादोत्तर हिन्दी कविता : एक अन्तर्यात्रा, डॉ. मधुबाला नयाल, पृष्ठ- 44
- 7 छायावादोत्तर हिन्दी कविता : एक अन्तर्यात्रा, डॉ. मधुबाला नयाल, पृष्ठ- 44
- 8 हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ- 624
- 9 हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ- 625
- 10 हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ- 622-623
- 11 प्रगतिशील चेतना और नागार्जुन का काव्य, पृष्ठ- 63
- 12 छायावादोत्तर हिन्दी कविता : एक अन्तर्यात्रा, डॉ. मधुबाला नयाल, पृष्ठ- 30
- 13 प्रगतिवादी काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना, विद्या प्रधान, पृष्ठ- 212-213
- 14 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ. नामवर सिंह, पृष्ठ- 68
- 15 प्रगतिवाद काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना, विद्या प्रधान, पृष्ठ- 216-217
- 16 प्रगतिवाद काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना, विद्या प्रधान, पृष्ठ- 223
- 17 तुम्हें सौंपता हूँ, त्रिलोचन, पृष्ठ- 41
- 18 प्रगतिवाद काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना, विद्या प्रधान, पृष्ठ- 216-217
- 19 प्रगतिवाद काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना, विद्या प्रधान, पृष्ठ- 223
- 20 तुम्हें सौंपता हूँ, त्रिलोचन, पृष्ठ- 41
- 21 हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ- 618
- 22 प्रगतिशील चेतना और नागार्जुन का काव्य, डॉ. अनिल कुमार, पृष्ठ- 14-15
- 23 प्रगतिशील चेतना और नागार्जुन का काव्य, डॉ. अनिल कुमार, पृष्ठ- 24
- 24 छायावादोत्तर हिन्दी कविता : एक अन्तर्यात्रा, डॉ. मधुबाला नयाल, पृष्ठ- 31
- 25 छायावादोत्तर हिन्दी कविता : एक अन्तर्यात्रा, डॉ. मधुबाला नयाल, पृष्ठ- 38
- 26 छायावादोत्तर हिन्दी कविता : एक अन्तर्यात्रा, डॉ. मधुबाला नयाल, पृष्ठ- 38-39
- 27 प्रगतिवाद काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना, विद्या प्रधान, पृष्ठ- 36-37
- 28 प्रगतिवाद काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना, विद्या प्रधान, पृष्ठ- 48
- 29 प्रगतिवाद काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना, विद्या प्रधान, पृष्ठ- 36
- 30 प्रगतिवादी काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना, विद्या प्रधान, पृष्ठ- 223
- 31 प्रगतिशील चेतना और नागार्जुन का काव्य, डॉ. अनिल कुमार, पृष्ठ- 50-51